इकाई 20 भारतीय भाषाओं का साहित्य

इकाई की रूपरेखा

20.0 उद्देश्य
20.1 प्रस्तावना
20.2 प्राचीन भारत की काव्य परंपरा
20.3 प्राचीन कविता का अंत
    20.3.1 उर्दू कविता
    20.3.2 अन्य भाषाएं
20.4 नई कविता
20.5 नाट्य-कला का विकास
    20.5.1 पाश्चात्य प्रभाव
    20.5.2 परिपक्वता
20.6 उपन्यास की उत्पत्ति
    20.6.1 नए वृत्तांत
    20.6.2 बंकिम युग
20.7 सारांश
20.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

20.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप जानकारी प्राप्त करेंगे :

- अठारहवीं शताब्दी के दौरान भारतीय साहित्य की प्रकृति के बारें में,
- किस प्रकार यह साहित्य अपनी ताज़गी और ओजस्विता खो रहा था, इस विषय में,
- इस साहित्य को एक नवीन संवेग मिलने के बारे में, और
- इस नवीन संवेग के अंतर्गत भारतीय साहित्य के नए रूपों के विकास के संबंध में।

20.1 प्रस्तावना

आधुनिक भारत में भाषा के विकास को इकाई 19 में दर्शाया गया है। यहां आधुनिक भारतीय भाषाओं में साहित्य के विकास का विवेचन किया जाएगा। भारत की प्रत्येक मुख्य बोलियों (देशी-भाषाओं) में से प्रत्येक में एक मानकीकृत भाषा का विकास एवं साथ ही देशी बोलियों में गद्य-लेखन की विकसित भाषा के उद्भव का, भारतीय साहित्य के क्रम-विकास पर छिद्रान्वेषी प्रभाव पड़ा। इसी सीधे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि भारत की देशी भाषाओं में साहित्य प्राचीन से नूतन की ओर विकसित हुआ।

अठारहवीं शताब्दी में भारत की देशी भाषाओं का कोई विकसित गद्य-साहित्य नहीं था। विस्तृत साहित्य था जरूर परंतु लगभग यह छंद (पद्य) शैली में था। इस प्राचीन काव्य-साहित्य पर परंपरागत मनोवृत्ति की छाप थी। भारतीय साहित्य पर आंग्ल-साहित्य का प्रभाव उन्नीसवीं शताब्दी में महसूस किया जाने लगा। इसके दो मुख्य नतीजे निकले। पहला, एक नई प्रकार की कविता का विकास हुआ जिसमें आंग्ल कविता के कई नए रूपों का समावेश था। दूसरा, एक प्रचुर गद्यात्मक-साहित्य का आविर्भाव हुआ, जिसपर नए युग और आधुनिक मनोवृत्ति की मुहर थी। इन प्रवृत्तियों को समझने के लिये हम इस इकाई की समय सीमा को थोड़ा सा लांघ सकते हैं।

20.2 प्राचीन भारत की काव्य परंपरा

उन्नीसवीं शताब्दी भारत में पाश्चात्य-साहित्य और आंग्ल-साहित्य के प्रभाव-स्वरूप एक नवीन काव्य शैली का उद्‌भव हुआ। यह इसके ठीक पहले मुगलों के पतन एवं अंग्रेज़ों के विस्तारवादी अशांत काल की काव्य परंपरा से स्पष्टत: भिन्न थी। तथापि, इस तथ्य पर गौर किया जाना चाहिए कि भक्ति युग एवं सूफीवाद के भक्तिमय साहित्य का, जो पहले ही समृद्धि पा चुका था, आधुनिक भारत के कवियों पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा।

प्राचीन सूफी और भक्ति काव्य में प्रियतम को ईश्वर के समकक्ष देखा और समझा गया है। परंतु भक्तिमय काव्य अठारहवीं शताब्दी की विशिष्टता नहीं थी, जिस पर एक शृंगारात्मक-काव्य की अत्यधिक रूढ़िगत शैली का प्रभाव था। तथापि, यहां-वहां उस अशांति के युग में भी हम कुछ महान सूफी और भक्ति कवियों तथा गायकों को पाते हैं: सिंध में, भीट के शाह अब्दुल लतीफ; पंजाब में वारिस शाह; दक्षिण में तेलुगु रचयिता त्यागराज जिसने अपनी हज़ारों भक्तिपूर्ण रचनाओं को अद्वितीय कर्नाटक संगीत के लिए कम्पोज किया।

भीट के सूफी संत शाह अब्दुल लतीफ और उनके पंजाबी समकालीन वारिस शाह ने अपने प्रदेशों की हिन्दू लोक-कथाओं, सासुई और पुनघ्न तथा हीर और रांझा की प्रेम-कहानियों का एक गूढ़ सूफी अर्थ प्रस्तुत किया। इस प्रकार उन्होंने श्रेष्ठ प्राचीन ग्रंथ दिए, जो शाह अब्दुल लतीफ (मृत्यु 1752) के रिसाल्सो और हीर-वारिस (1766) के नाम से जाने जाते हैं। दोनों ने ही लोकप्रिय प्रेम-कथाओं की गहन कारुणिकता का सहज भाव से सूफी-प्रचार के लिए प्रयोग किया।

हीर रांझा की कथा एक विवाहेतर संबंध पर आधारित है। मुखिया की बेटी हीर को चरवाहे रांझा से उसके परिजन बलपूर्वक अलग कर देते हैं एवं एक ऐसे व्यक्ति से उसका विवाह किया जाता है, जिसमें उसकी रुचि नहीं है। उसका जोगी की भांति मैदानों में घूम रहे अपने प्रियतम से निरंतर लगाव का अत्यंत दु:खद अंत होता है। वह अपने परिजनों के हाथों ही मारी जाती है और जब यह खबर रांझा को मिलती है तो वह एक लम्बी सांस भरता है और उसकी आत्मा भी शरीर छोड़ देती है। लेकिन जहां तक वारिस शाह का संबंध है, उनकी आत्माएं स्वर्ग में हमेशा के लिए एक हो चुकी हैं। उनका मानना है कि इस दुनिया में सच्चा-प्रेम, सूफी के ईश्वर के साथ संयोजन (मिलाप) का प्रतीक है।

शाह अब्दुल लतीफ ने सिंध की कई लोक-कथाओं को अपनी कल्पना से नया रूप दिया। इनमें से झुलसाने वाले रेगिस्तान की पृष्ठभूमि में चित्रित सासुई और पुनघ्न की कारुणिक प्रेम-कथा सिंधवासियों में सर्वाधिक लोकप्रिय है। शाह अब्दुल लतीफ द्वारा इस सुप्रसिद्ध प्रसंग का निरूपण तब प्रारंभ होता है जब सासुई के पति, बलुचिस्तान के पुनघ्न नामक अजनबी को सासुई के परिजनों द्वारा गुप्त रूप से रात्रि में द्रुतगामी ऊँटों द्वारा भगा लिया जाता है। अपने पति की खोज में प्रेमिका अकेले ही सिंध के पथविहीन रेगिस्तान और बलूचिस्तान की अनावृत्त पहाड़ियां पार करती है। रेत के टीलों के मध्य उसका जीवन एक ऐसी तलाश में समाप्त होता है जो शाह अब्दुल लतीफ के शब्दों में एक समर्पित व्यक्ति द्वारा खुदा की अथक खोज के बराबर है। रेत के टीलों में अंतिम रूप से लुप्त होने से पूर्व गीत के ये बोल, शाह अब्दुल लतीफ, उस प्रियतमा से बुलवाता है:

> मिलन हो न सका मेरे प्रेमी से, यद्यपि
> हो गया सौ सूर्यों का अस्तगमन,
> जीवन अर्पण कर दूं मैं अपना, यदि
> मिल सकूं उससे, कि यात्रा मेरी सफल हो।

शाह अब्दुल लतीफ, सासुई द्वारा अंत तक के लगातार संघर्ष में सूफी के स्वयं व ईश्वर के मध्य भेद को मिटाने के कठिन रास्ते का संघर्ष देखते हैं। परंतु, वे और उनके समान अन्य कवि उस अशांत युग में लगभग अपवादस्वरूप माने जा सकते हैं। अठारहवीं शताब्दी और उन्नीसवीं शताब्दी का प्रारंभिक काल अधिकांश भारतीय भाषाओं में पारंपरिक (रूढ़िगत) कविता से प्रभावित रहा है, जो गहन समर्पण से प्रेरित न होकर प्रतीकवादी शृंगारिकता से ही प्रेरित था।

20.3 प्राचीन कविता का अंत

मुगल साम्राज्य के पतन के साथ उत्पन्न सामाजिक संकट का उस युग के साहित्य पर गहरा प्रभाव पड़ा। उत्तरी और दक्षिणी भारत की लगभग सभी मुख्य भाषाओं के साहित्य में प्रतीकवादी भाव व्याप्त था, जब तक कि पश्चिम के प्रभावस्वरूप नवीन गद्यों और कविता का आगमन न हुआ। ऐसा उर्दू काव्यात्मक साहित्य के संदर्भ में विशेष रूप से कहा जा सकता है, जो अठारहवीं शताब्दी में अस्तित्व में आया। दिल्ली में 1700 ई. के लगभग इसकी शुरुआत से ही, इसने गंभीर नैतिक संकट के संकेत दिए, जिसमें उर्दू-कविता को संरक्षण देने वाले अभिजातवर्गीय मुस्लिम समाज के दुर्भाग्यों की ओर इशारा था।

20.3.1 उर्दू कविता

इस युग की एक विशिष्टता कविता की एक उर्दू-शैली थी, जिसे शहर-ए-आशोब (शहर का मातम) कहा जाता था। इसमें एक कस्बे के सभी व्यवसायों के ह्रास (मंदी) और बुराई की अच्छाई पर विजय का वर्णन रहता था। विशेष रूप से इसमें चीज़ों की मौजूदा व्यवस्था को उलटने (इंकलाब) तथा पूर्व अमीरों का नए-अमीरों द्वारा तख्ता पलटने का जिक्र होता है। उल्लेखनीय है कि शहर-ए-आशोब में प्रयुक्त शब्द ''इंकलाब'' का मतलब क्रांति के सृजनशील सामर्थ्य से नहीं था, बल्कि चीज़ों की एक सही व्यवस्था को उलटने की प्रक्रिया से था। अठारहवीं शताब्दी के पटना के उर्दू-शायर रसिख ने अफसोस ज़ाहिर करते हुए कहा, हर चीज़ ''अस्त-व्यस्त हो गई है''। उसे ऐसा महसूस हुआ कि मुगल घुड़सवार योद्धाओं का पूर्व शासक-दल ''गरीबी से इतना परेशान है कि उनका किसी एक मिट्टी के घोड़े पर भी प्रभुत्व नहीं है। दिल्ली के एक और उर्दू शायर, सौदा ने (1713-1780), जो दिल्ली पर ईरानी, अफगानी और मराठों के आक्रमण के समय यहीं थे, अपनी शहर-ए-आशोब में उन घरों का जिक्र किया, जो कभी संगीत से प्रफुल्लित थे और जहां अब गधों के रेंकने की आवाज़ें आती थीं, लावारिस मस्जिदें थी जहाँ ''प्रेतों की रोशनी'' के अलावा कोई रोशनी नहीं थी। उसने एक कसीदे में उस क्षीण घोड़े की हंसी उड़ाई जिसपर सवार होकर एक दरिद्र मुगल योद्धा मराठों से लड़ने चल पड़ा। साईस ने उसे धान का थैला दिखाया, नौकर ने इसे पीछे से एक लाठी से पीटा, जबकि भीड़ में से किसी ने सलाह दी, ''इसके पहियें लगा दें, या फिर इसे आगे बढ़ाने को इसके पाल बांध दें।'' जब युद्ध प्रारंभ होने ही वाला था, योद्धा ने अपने जूते हाथ में लिए, घोड़े को अपनी बगल में दबाया और शहर में अस्त-व्यस्त तब तक दौड़ा जब तक कि उसे अपना घर नहीं मिला।

शराब और साकी (तवायफ के लिए एक शिष्ट-कथात्मक शब्द) की अवधारणा उस युग की उर्दू कविता से जुड़ी हुई थी। पतनोन्मुख अभिजात्य समाज की भोग-विलासिता, अय्याशी और कामुकता का प्रतिबिंबन दिल्ली और लखनऊ की उर्दू-शायरी में तवायफ के प्रतीक की प्रधान्यता से स्पष्ट होता है। आत्माओं के मिलन की अवधारणा से संतुष्ट न होकर कवि (शायर) ने प्रियतम के साथ ऐंद्रिक संबंधों की कल्पना की, जैसा कि निम्नलिखित पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है, जिन्हें मुर्शिदाबाद के मुगल दरबारी के एक पुत्र और बंगाल में अंग्रेज़ी कब्जे के बाद लखनऊ विस्थापित होने पर मजबूर इंशा अल्लाह खान ने रचा था।

> झिड़की सही, अदा सही, चीने जबीं सही
> सब कुछ सही पर एक 'नहीं' की नहीं सही

अब प्रियतम प्रतीक के तौर पर ईश्वर के लिए न होकर तवायफ के लिए प्रयुक्त होना जाने लगा। यह इंशा अल्लाह खान ने स्पष्ट कर दिया:

> यूं ही नहीं, अचानक शेख हुआ परेशान
> जब मिला मैं उससे अपने यार की महफिल में

अठारहवीं शताब्दी के दूसरे भाग में लखनऊ में प्रेम जैसा कि इंशा अल्लाह खान और अन्य उर्दू कवियों ने वर्णन किया है, एक मनोरंजन का साधन था, एक परिष्कृत और सुसंस्कृत दरबारी का कौशल जो भावनाओं में विश्वास नहीं करता था। उस युग की हिंदी कविता में भी समान लक्षण विद्यमान थे। जयपुर के वैभवशाली दरबार में पद्माकर भट्ट (1753-

1833) द्वारा रचित जगत विनोद, एक ऐसी दुनिया का चित्रण करता है जिसमें गंभीर भाव अनुपस्थित है एवं केवल उन लोगों से संबंध रखता है, जिनका भोग-विलास ही एक मात्र कार्य रह गया था। सत्रहवीं शताब्दी के मध्य से हिंदी कविता में ''भक्ति'' से ''रीति'' (अर्थात् शब्दाडम्बर और काव्यशास्त्र पर बल तथा एक विशेष शैली में ऐंद्रिक भाव की कविता) की ओर एक दीर्घकालिक परिवर्तन हुआ। लेकिन इस ''रीति'' ने अंतहीन पुनरावृत्ति से अपनी ताजगी खो दी एवं उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ तक यह व्यर्थ हो चुकी थी।

20.3.2 अन्य भाषाएं

वैयाकरण एवं अलंकारवाद की अधिनायकता केवल हिन्दुस्तानी ज़ुबान तक ही सीमित नहीं थी, बंगाली, गुजराती, तेलुगु, तमिल और उड़िया भी इससे प्रभावित हुई। के.एम. मुंशी अठारहवीं शताब्दी के अंतकाल के गुजराती साहित्य को ''उबाऊ निष्प्राण युग'' मानते हैं, मायाधर मानसिंह, ''उड़िया की काली-रात्रि'' की बात करते हैं, जिसमें बिलासमय एवं अलंकृत कविता फली-फूली, और चेन्धिया एवं भुजंग राव 1630-1850 के मध्य के तेलुगु साहित्य की तुलना ''एक लंबी रात'' से करते हैं।

उड़ीसा और विजय नगर में हिन्दू राज्यों के अंत ने प्रायद्वीपीय-भारत में उसी प्रकार के सामाजिक और नैतिक संकट को जन्म दिया, जो मुगल साम्राज्य के छिन्न-भिन्न हो जाने से उत्पन्न हुआ। तेलुगु में विकसित हुई काव्य-शैली अतिशयोक्ति एवं अतिरंजना युक्त थी: एक कवि को शहर के कंगूरे आकाश चूमते प्रतीत हुए। दूसरे ने एक कदम आगे बढ़कर उन्हें आसमान भेदने वाले बताया। एक अन्य ने इन दोनों को मात देते हुए इन्हें (कंगूरों को) इन्द्र के राज में प्रवेश करते हुए बताया। उस युग की तेलुगु-कविता का नैतिक स्तर भी उच्च नहीं था: सुक सप्तति में समाज की महिलाओं द्वारा चातुर्य से वैवाहिक प्रतिज्ञाओं का उल्लंघन करने संबंधी वर्णन था और बिल्हानिया में एक युवा लड़की एवं उसके शिक्षक के मध्य शारीरिक संबंध को दर्शाया गया है। यही हाल बंगाली-कहानियों का था, जिन्हें एक दूसरे रूप और उत्कृष्ट शैली में भरत चन्द्र राय (मृत्यु 1760) ने लिखा। उस युग की असुरक्षा एवं अशांति ने उस काल की कविता में उदासी के भाव को भर दिया। रामप्रसाद सेन द्वारा रचित, 18वीं शताब्दी के मध्य काल में, काली मां के गीतों में संध्या-काल का गहरा प्रभाव रहता था:

चलो खेलें, तुमने कहा, और ले आए मुझे इस पृथ्वी पर
झूठे बहाने से। ओ मां, ये खेल मेरी
इच्छा पूरी नहीं करते। यहां जो कुछ होना था
वह खेला जा चुका, अब शाम को,
अपने शिशु को बाहों में ले घर की ओर चलो।

निराशा का यही आलम मिर्ज़ा गालिब (1797-1869) की फारसी और उर्दू कविता में था, जिन्होंने सन् 1827-1857 के मध्य दिल्ली रहते हुए अपनी बेजोड़ गज़लें लिखीं। गुज़रे वक्त के वे सबसे महान कवि थे, डूबते मुगल साम्राज्य के कवि। दिल्ली में अंतिम मुगलों के अधीन उनका जीवन, उनके शब्दों में यूं व्यक्त हुआ:

जीवन अंतहीन यात्रा नहीं
न मृत्यु में है विश्रांति
फिसलते और गिरते
हम लड़खड़ाते कदमों के साथ
अनिश्चय की ओर बढ़ते जाते हैं,

(गालिब के शेर का भावानुवाद)

गालिब के साथ ही पुरानी कविता की अदृश्य होती वैभवता की अंतिम किरणें दिखाई पड़ीं जब वे दिल्ली के खास अंदाज में अपनी फारसी और उर्दू कविता लिखे रहे थे, कलकत्ता में माइकल मधुसूदन दत्त और अन्य बंगाली कवि अंग्रेज़ी कविता से अतुकांत छंद, सॉनेट और आधुनिक व्यक्तिनिष्ठ महाकाव्य जैसे नए रूपों का भारतीय कविता में समावेश कर रहे थे।

20.4 नई कविता

बंगाली-कविता में नए रूप-विधानों को अंगीकृत किया गया। माइकल मधुसूदन दत्त (1827-1873) ने नई भारतीय कविता को अपने अतुकांत-छंद युक्त बंगाली महाकाव्य, मेघनाद बाध काव्य द्वारा नई दिशा प्रदान की। कालांतर में, गालिब की उर्दू भाषा सहित अन्य सभी भाषाएं इस नए रूप की कविता द्वारा समृद्ध हुई। गालिब के विद्रोही शार्गिद हाली (1837-1914), गज़ल की परिपाटी के विरुद्ध विद्रोह करने वालों में अगुआ थे। अपनी मददो-जज्-ए-इस्लाम (इस्लाम का उतार-चढ़ाव) से, जो मुसद्दसे-ए-हाली के नाम से ज्यादा जानी जाती है, उन्होंने पुरानी श्रृंगारिक कविता की खामियों को निर्ममतापूर्वक सामने रखा। उनकी मुसद्दस, जो सुधारवादी सर सैयद अहमद खां से प्रभावित होकर इस्लाम की नई भावना को अभिव्यक्त करती है, इस्लाम के यश और पतन का ब्यौरा देती है। सुधारवादियों के उद्देश्यों तथा आदेशों की पैनी अभिव्यंजना करते हुए, हाली उन्हें सुधार (आधुनिकता) के उन्माद में अपनी जड़ों को खो देने के खतरे से आगाह करते हैं। उन्होंने कहा:

> ऐ सुधारक! जब तक कपड़े में दाग़ लगा है, उसे जरूर धो। दाग़ को पूरी मेहनत से धो, पर इतना ज्यादा भी नहीं कि न तो दाग़ ही रहे और न कपड़ा!
>
> (हाली की रचना का भावानुवाद)

जहां अल्ताफ हुसैन हाली उर्दू में नई कविता की नींव रख रहे थे, गुजराती एवं हिंदी में यही कार्य क्रमशः नर्मदाशंकर लालशंकर (1833-1886) और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (1846-1884) कर रहे थे। नर्मदा शंकर और भारतेन्दु को आज मुख्य रूप से आधुनिक गुजराती और हिंदी कविता के जनकों के तौर पर ही याद किया जाता है, लेकिन उन्होंने इन दोनों भाषाओं की कविता को नयी चेतना प्रदान करने का कार्य भी किया। नर्मदा शंकर जो एक सामाजिक क्रांतिकारी भी थे,ने अपनी कविता हिन्दुआनी पदाति, 1864 (हिन्दुओं का पतन) में गुजरात को झकझोरते हुए राष्ट्रवादी आह्वान किया—"जय-जय गरवी गुजरात" (गौरवशाली गुजरात की जय हो, जय हो)। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने मुख्य रूप से राष्ट्रीयता की भावना से ओत-प्रोत अपनी कविताएं ब्रज भाषा में लिखीं। बालासोर की त्रिमूर्ति—फकीर मोहन सेनापति (1843-1918), राधानाथ राय (1848-1908) और मधुसूदन राव (1853-1912) ने उड़िया कविता के लिए वही कार्य किया, जो मधुसूदन दत्त बंगाली कविता के लिए कर चुके थे। दत्त का अनुसरण करते हुए उन्होंने उड़िया में अतुकांत छंद, सॉनेट और वैयक्तिक महाकाव्यीय रूपों का समावेश किया, उन्होंने इस नई शैली के माध्यम से उड़ीसा की परंपरा एवं प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति अपने लगाव को व्यक्त किया। इसी प्रकार, आधुनिक असमी साहित्य के शीर्षस्थ नायक लक्ष्मीनाथ बाजबरुआ (1868-1938) ने असम के वैभवशाली अतीत का आमार जन्म, भूमि, मोर देश और बिन बैरागी जैसे देशप्रेमी गीतों में गुणगान किया। कृष्णाजी केशव दामले, जो केशव सुता (1866-1905) के नाम से प्रसिद्ध थे, ने 1885 के आसपास मराठा-कविता में प्रगीतात्मक कल्पनाप्रधानता (भावुकता) का सूत्रपात किया। वे उन्नीसवीं शताब्दी के महाराष्ट्र के महानतम कवि थे। हाली, भारतेन्दु और नर्मदा शंकर की भांति ही केशव दामले ने भी अपनी कविता में क्रियाशीलता की एक नई भावना को व्यक्त किया, जो प्रारंभिक उन्नीसवीं शताब्दी में गालिब के विषाद-युक्त अंधकारपूर्ण लहजे के मुकाबले भिन्न थी।

लेकिन भारत में इस नई चेतना के सर्वोत्तम प्रतिनिधि रविन्द्रनाथ टैगोर (1861-1914) थे। उन्होंने ने ही भारतीय साहित्य में पश्चिम के मानवतावादी और तर्कनावादी मूल्यों को स्वाभाविक ढंग से स्थापित किया। उन्होंने विदेशी प्रतिमानों को जबरन या कृत्रिम रूप से रूपांतरित नहीं किया: बल्कि, उपनिषद और कालिदास के प्रभाव, वैष्णव गायकों और ग्रामीण लोक गीतों का उनकी कविता में, पाश्चात्य प्रभाव के साथ, सुव्यवस्थित समायोजन हुआ। इस उपलब्धि से उन्हें विश्व-स्तर पर मान्यता, और 1913 मे नोबल पुरस्कार प्राप्त हुआ। वे केवल कवि ही नहीं थे, उन्होंने उपन्यास, लघु-कहानियां, नाटक, निबंध और साहित्यिक समीक्षाएं भी लिखीं, जिन्हें उनकी कलम ने परिपक्वता प्रदान की। कालांतर में उनकी लेखनी ने प्रत्यक्ष रूप से या अन्य भाषाओं में अनुवादित हो अन्य कई भारतीय भाषाओं को प्रभावित किया। अतएव यह कहा जा सकता है कि उनके साथ ही आधुनिक

भारतीय साहित्य ने वयस्कता प्राप्त की।

यह नई चेतना क्या थी, जिसे टैगोर ने मूर्त रूप दिया? यह सुस्पष्ट हो जाएगा जब हम उनकी माया की धारणा (मोह)—भारत की सदियों पुरानी "पारलौकिक" संस्कृति के दार्शनिक आधार को दी गई चुनौती का अध्ययन करें। यह बात गौरतलब है कि कुछ मध्यकालीन भक्ति कवियों ने भी माया के सिद्धांत को स्वीकार नहीं किया था। टैगोर उसी काव्य परंपरा से थे, बल्कि उन्होंने अपने इस दावे में, कि यह दुनिया ही वास्तविकता है, वैज्ञानिक और मानवतावादी विचारों का समावेश कर इसे और भी मज़बूत किया। यह अपने देश के प्रति प्रेम में, व्यक्त हुआ, किंतु यह संकीर्ण देश-प्रेम नहीं था। उनके देशभक्तिपूर्ण आदर्श, जो संपूर्ण मानवता से ओत-प्रोत एवं तर्क तथा स्वतंत्रता से प्रेरित थे, उन्हें नोबल पुरस्कार का सम्मान दिलाने वाली **गीतांजलि** की एक प्रसिद्ध कविता में इस प्रकार व्यक्त हुए:

> जहां मन निडर और मस्तिष्क ऊंचा रहे
> जहां निर्बाध ज्ञान फैले,
> जहां विश्व विभाजित न हो,
> संकीर्ण घरेलू (देशीय) खाइयों में
> जहां शब्द सत्य की गहराई से निकले,
> जहां अथक प्रयासों की शाखाएं पूर्णता की खोज में निकले
> जहां तर्क की सुस्पष्ट धारा अपना मर्म न खोए
> मृत-प्रकृति की उदास मरूभूमि में
> जहां मन
> चिंतन और कर्म में
> स्वतंत्रता के उस स्वर्ग में, हे प्रभु, मेरा देश जाग्रत हो।

(टैगोर की कविता का भावानुवाद)

इस प्रकार से टैगोर ने अपने देश के साहित्य में विकास और तर्क की सार्वभौमिक चेतना का समावेश किया, और ऐसा उन्होंने बेजोड़ भारतीय ढंग से ईश्वर और शाश्वत सत्य को न भूलते हुए किया।

उनके जीवन काल में कई अन्य कवियों ने अपनी विशिष्ट काव्य रचनाओं से भारतीय साहित्य को समृद्ध किया। आधुनिक तमिल के महान कवि सुब्रमण्यम भारती को टैगोर के आदर्श से प्रोत्साहन मिला। भारती के प्रेम गीतों के संकलन कुयिल पट्टु को टैगोर रचित गीतांजलि का प्रतिरूप समझा जा सकता है, उन्होंने आज़ादी के गीतों के प्रभावशाली संकलन स्वतंत्र पट्टु की रचना की। तीन प्रमुख समकालीन मलयालम कवियों, कुमारन् असन, उल्लूर एस. परमेश्वरा अय्यर और वल्लतोल नारायण मेनन, ने भी इसी नई चेतना का प्रसार किया। इन तीनों ने मिलकर, जैसा कि मलयालम साहित्य के एक इतिहासकार ने लिखा, उस भाषा में "रूमानी कविता के सुनहरे युग" का सृजन किया।

टैगोर के अन्य समकालीनों में एक सिख कवि भाई वीर सिंह, जिनकी श्रेष्ठ कृति, राना सूरत सिंह (1905) में एक विधवा की अपने मृत पति की खोज में आध्यात्मिक यात्रा का वर्णन है, गुजराती कवि नरसिंह राव दिवातिया, जिसने 1915 में अपने पुत्र की मृत्यु पर एक अद्वितीय शोक-गीत की रचना की, और छायावाद के हिंदी कवियों—जयशंकर प्रसाद, निराला और सुमित्रानंदन पंत, जिन्होंने टैगोर और यूरोपीय प्रतीकवादियों से प्रेरित हो इस शताब्दी के दूसरे दशक की हिंदी कविता में वैयक्तिक ढंग से रहस्यवाद और कल्पनाप्रधानता का समावेश किया।

आधुनिक भारतीय कविता का वृत्तांत मोहम्मद इकबाल का संदर्भ दिए बगैर अधूरा रहेगा, जिन्होंने टैगोर से परे एक दूसरी लीक अपनाई। बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में तुर्की खलीफशाही पर गहराए लम्बे संकट के दौरान वे उर्दू भाषा में सर्व-इस्लामवाद के कवि के रूप में सामने आए। बाद में उन्होंने फारसी में कई रचनाएं लिखीं, जिससे उन्हें भारत के बाहर इस्लामी दुनिया में कुछ मान्यता मिली। बाल-ए-जिबरील के साथ वे पुनः उर्दू में रचना करने लगे। यद्यपि प्रारंभ में वे एक मुखर राष्ट्रवादी थे, 1930 के बाद भारत में मुसलमानों की अलग मातृभूमि के हिमायती हो गए। आध्यात्मिकता से समृद्ध और

इस्लामिक पुनर्जागरण की भावना से ओत-प्रोत काव्य विरासत को छोड़ते हुए 1938 में उनका देहांत हुआ।

बोध प्रश्न 1

1) मुगल साम्राज्य के पतन के साथ भारतीय साहित्य में क्या परिवर्तन हुए?

....

....

....

....

2) क्या नई कविता पहले के पतनकाल से पीछा छुड़ाने में सक्षम हुई?

....

....

....

....

20.5 नाट्य-कला का विकास

रंगमंच ने उन्नीसवीं शताब्दी की भारतीय साहित्यिक गतिविधि में एक नए आयाम का सूत्रपात किया। इससे पहले इसका अस्तित्व नहीं था। यूरोपीय समुदाय द्वारा कलकत्ता में रंगमंच पर आंग्ल-नाटकों के प्रदर्शन से इस धारणा का प्रसार हुआ। इससे पूर्व विभिन्न प्रकार के लोक-अभिनय देश भर में होते थे–केरल में कथकली, कर्नाटक और आंध्र प्रदेश में यक्षाग्ना, बंगाल तथा उड़ीसा में यात्रा और ब्रज में रासलीला इत्यादि। गीत, नृत्य और अभिनय के कुछ अंशों को मिलाकर ये प्रदर्शन सुस्पष्ट नाट्य-कला रहित होते थे। शास्त्रीय संस्कृत नाट्य-कला के कुछ अवशेषों को छोड़कर वास्तविक नाट्य-कला का अभाव था। देश के कुछ हिस्सों में जैसे उड़ीसा और केरल में, संस्कृत-नाटक की अभी भी कुछ सीमा तक एक जीवंत परंपरा थी। उन्नीसवीं शताब्दी में पहली बार जब नाटकों को रंगमंच पर प्रदर्शित किया गया तो संस्कृत नाटक, विशेष रूप से कालिदास के अभिज्ञान शाकुंतलम कई प्रदेशों में प्रेरणा के स्रोत बने।

20.5.1 पाश्चात्य प्रभाव

लेकिन, पाश्चात्य नाटकों, जो भारतीय मध्यम वर्ग की कल्पना-शक्ति में समा गए थे, ने ही उनका परिचय नाटक के उन भावों से कराया जो संस्कृत नाटक में विद्यमान नहीं थे: विशेषत: दु:खांत नाटक की धारणा, रंगमंच पर दु:खद समाप्तियाँ और हिंसापूर्ण मौतें। यह कि यह एक नई एवं तर्कसंगत धारणा थी, जी.सी. गुप्ता द्वारा स्वीकार की गई जिन्होंने प्रथम मौलिक बंगाली नाटक 1852 में लिखा। नाटक के दु:खद अंत को वैध ठहराते हुए उन्होंने अंग्रेज़ी कवि शेक्सपियर का संदर्भ दिया।

''हमारे देश के लेखक'', अपने नाटक की प्रस्तावना में उन्होंने लिखा, ''यह मानते थे कि यदि वे एक व्यक्ति से संबंधित दु:खद घटना का अभिनय में सुखद अंत नहीं करेंगे तो निरपवाद रूप से वे गुनाह करेंगे।'' लेकिन, उन्होंने दु:ख की गहराई से थाह लेकर अधिक समन्वय और प्रसन्नता प्राप्त करने को आधार बनाते हुए इस धारणा से परे हटने की हिमायत की।

भारतीय पाठकों का पाश्चात्य शैली के नाटकों से यह प्रथम परिचय हो, ऐसा न था। कलकत्ता के एक रूसी आगंतुक जेरासिम लेबेदेव ने एक अंग्रेज़ी नाटक का बंगाली में रूपांतरण कर 1759 में इसे रंगमंच पर मंचित किया। इससे पूर्व भी, मध्य केरल के ईसाइयों ने पुर्तगाली प्रभाव में आकर नाटकों को तैयार किया जिनमें पाश्चात्य नाटक के कुछ अवयव मौजूद थे। लेकिन इन इक्की-दुक्की रचनाओं (नाटकों) ने उन्नीसवीं शताब्दी

के मध्योपरांत नाट्य-साहित्य के विकास को प्रभावित किया।

पाश्चात्य धारणाओं से प्रभावित प्रारंभिक मौलिक नाटकों में से एक पूर्व उल्लिखित, कीर्तिबिलास, और उसी वर्ष (1852) में ताराचरण सिकदार रचित बंगाली प्रहसन भद्रजन शीर्षक से, जिसमें सुभद्रा के अर्जुन के साथ सहपलायन के पौराणिक प्रसंग को विकसित करने में प्रहसन की संस्कृत और पाश्चात्य, दोनों ही धारणाओं का समावेश है। मराठी में प्रथम पूर्ण-विकसित नाटक प्रसन्नराघवा (1851) था। प्रथम उर्दू नाटक अनन्त की इन्द्रसभा के बारे में कहा जाता है कि इसे लखनऊ में नवाब वाजिद अली शाह, उसके दरबारियों और उनकी कनीज़ों द्वारा अभिनीत किया गया। यह एक अप्सरा की एक व्यक्ति के प्रति प्रेम की असंगत कहानी पर आधारित है, भगवान इन्द्र द्वारा उस व्यक्ति को कारावास और कैसे वह अप्सरा अपने प्रेमी को जोगन का वेश धारण कर छुड़ाती है, यही इस नाटक का मुख्य कथानक है।

20.5.2 परिपक्वता

इन प्रारंभिक प्रयासों में आशानुरूप अनेक कमियां थीं। आधुनिक भारतीय नाटक को साहित्य का दर्जा दिलाने वाले, प्रसिद्ध बंगाली कवि माइकल मधुसूदन दत्त थे। उनका प्रथम नाटक शर मिष्ठा (1859) महाभारत की एक कथा पर आधारित था। इसके कुछ महीनों के भीतर ही उन्होंने उपहासात्मक रूप में दो समकालीन सामाजिक नाटक लिखे। अंत में उन्होंने श्रेष्ठ दु:खांत कृति कृष्णाकुमारी (1861) की रचना की, जो उदयपुर की अद्वितीय राजकुमारी के लिए जयपुर और जोधपुर के दो प्रतिद्वंद्वी राजकुमारों के मध्य संघर्ष पर आधारित है, अपने पिता के घर को नष्ट होने से बचाने के लिए राजकुमारी को आत्महत्या करने पर मजबूर किया जाता है। उनके समकालीन दीनबंधु मित्र ने बंगाल के नील उगाने वालों के शोषण पर आधारित चर्चित नाटक नील दर्पण (1860) की रचना की। इस नाटक ने चारों तरफ सनसनी फैलाई और इसके अनुवादक, जे. लोंग, को राजद्रोह के अपराध में कारावास की सजा दी गई। अन्य भाषाओं के महत्वपूर्ण नाटकों में रणछौड़ भाई उदयराम के दु:खांत गुजराती नाटक का उल्लेख किया जा सकता है।
ललिता-दु:खां-दर्शक (1864) में एक अनपढ़ लम्पट से ब्याही एक सुसंस्कृत कुमारी आत्महत्या के लिए मजबूर होती है, उड़िया में रामाशंकर राय के प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटक कांची कावेरी (1880), उड़ीसा के राजा पुरुषोत्तम देव के जीवन की एक वीरोचित और भावक घटना से संबंधित है, और कन्नड़ में इगाप्पा हेगादेया विवाहप्रहसना के शीर्षक में वेंकटरमन शास्त्री का लघु सामाजिक नाटक विवाह के रूप में लड़कियों की खरीद-फरोख्त की सामाजिक बुराई से संबंधित है।

प्रारंभ में नाटकों का मंचन गैर-पेशेवर दलों द्वारा अक्सर किसी संभ्रान्त परिवार की हवेली में होता था। माइकल मधुसूदन दत्त की दु:खान्तिकी कृष्णाकुमारी, का मंचन 1865 में उत्तरी कलकत्ता के शोभा बाज़ार राजघर में हुआ। प्रथम सार्वजनिक रंगशाला, राष्ट्रीय रंगशाला के नाम से 1872 में कलकत्ता में स्थापित हुई। शीघ्र ही कलकत्ता में कई प्रतिद्वंद्वी रंगशालाएं और व्यावसायिक समूह सामने आए। व्यावसायिक रंगमंच की सफलता के दूसरे केन्द्र बंबई में, पारसी समुदाय ने इसकी व्यावसायिक संभावनाओं को ध्यान में रखते हुए बंबई में शीघ्र ही कई मंडलियां स्थापित कीं और शीघ्र ही इनकी गतिविधियों का विस्तार उत्तर-पश्चिम भारत के कई क्षेत्रों में किया। ये भारत की प्रमुख नगरों का चक्कर लगाती, भ्रमणशील मंडलियां थी जो विशाल निम्नवर्गीय जनता को, भड़कीले और चकाचौंध नाटकों की ओर आकर्षित करती थी, जिनमें अभिनेता अतिरंजित कृत्यों और कर्णभेदी भावुकतापूर्ण शैली में अभिनय करते थे। ऐसे नाटकों में प्रकृतवाद का कोई स्थान नहीं था और ये नाटक शायद ही कभी साहित्य की गरिमा पा सके। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ से व्यावसायिक रंगमंच की प्रगति ने भारत के हर भाग में साहित्यिक नाटक और लोकप्रिय नाटक के मध्य दरार पैदा कर दी।

20.6 उपन्यास की उत्पत्ति

उपन्यास ने भारतीय साहित्य में एक नई शैली के रूप में प्रवेश किया। लघु कहानी के

साथ यह उन्नीसवीं शताब्दी के दूसरे भाग में भारतीय साहित्य पर अंग्रेज़ी साहित्य के बढ़ते प्रभाव के फलस्वरूप अवतरित हुआ। शास्त्रीय संगीत साहित्य में बाणभट्ट की कल्पनाप्रधान कृति कादम्बरी, शायद किसी अन्य कथा के बजाय उपन्यास की विधा के निकट.कही जा सकती है। संस्कृत और फारसी दोनों में प्रचुरता से उपलब्ध इन कथाओं में यथार्थवाद और उपन्यास के लिए आवश्यक समय और धरातल के संदर्भ का अभाव था। आधुनिक भारतीय भाषाओं में उपन्यास की प्रगति उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक काल में गद्यात्मक साहित्य पर अवलम्बित रही।

20.6.1 नए वृत्तांत

गद्य लेखन के साथ ही, उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम भाग में कुछ नई शैली के गद्य-वृत्तांत सामने आए। ये ही पूर्ण-विकसित उपन्यास के अंतरिम आधार बने। प्यारेचन्द मित्र द्वारा लिखित अलालेर घरेर दुलाल, जिसे कभी-कभी बंगाली का पहला उपन्यास कहा जाता है, एक व्यंग्यात्मक उपहासात्मक सामाजिक रेखाचित्र था, जो 1858 में प्रकाशित हुआ। एक युवा दुराचारी ज़मींदार के इर्द-गिर्द बुने रेखाचित्रों की इस लेखमाला में सामाजिक यथार्थवाद जरूर था, परंतु इसमें उस विकसित कथानक की कमी थी, जो उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम काल के उपन्यास की विशिष्टता थी। 1862 में भूदेव मुखोपाध्याय के बंगाली में दो कल्पनाप्रधान ऐतिहासिक वृतांत प्रकाशित हुए। इनका शीर्षक ऐतिहासिक उपन्यास दिया गया। यही "उपन्यास" शब्द कालांतर में कई उत्तर भारतीय भाषाओं में प्रचलित हुआ। इसे प्रथम बार कल्पित कथा-साहित्य की कल्पनाप्रधान रचना के लिए प्रयुक्त किया गया। मराठी में कल्पनाप्रधान गद्य लेखन उपन्यास की विधा के निकट इसी समय सामने आया: लक्ष्मण मोरेश्वर हाल्बे रचित मुक्तमाला (1861) और नारो सदाशिव रिसबद का मंजूघोषा (1868)।

इससे पूर्व भी एक से अधिक आधुनिक भारतीय भाषा में आधुनिक ढंग से उपदेशात्मक वृतांत सामने आए। इनके साथ सामाजिक संदेश रहता था। इस प्रकार की अति प्रारंभिक कथाएं भारत में ईसाई प्रचार का ही एक हिस्सा थी। इस श्रेणी में, हन्नाह केथेराइन मुलन्स द्वारा बंगला में रचित फूलमनि-ओ-करूणार बीबारन (1852), बाबा पदमजी की मराठी रचना यमुना पर्यटन (1857) जिसमें एक हिंदू विधवा के दुःखों का वर्णन है जो ईसाई धर्म स्वीकार करती है, रखे जा सकते हैं। कुछ समीक्षक इन दोनों रचनाओं को क्रमशः बंगाली और मराठी भाषा के प्रथम उपन्यास के रूप में गिनाते हैं, लेकिन किसी में भी चरित्र-चित्रण की गहराई अथवा लयबद्ध रूप से बुना कथानक नहीं था। कहानी की सहायता से सामाजिक चेतना फैलाने के उद्देश्य से ईसाई, मुस्लिम और हिन्दू लेखकों ने अन्य उपदेशात्मक रचनाएं दीं। एक अच्छी और एक बुरी बहन के जीवन में वैषम्य दिखाते हुए, नजीर अहमद की मिरअत-उल-उरूस (1869) नामक उपदेशात्मक कथा को उर्दू का पहला उपन्यास कहा जाता है। अगले वर्ष हिंदी में प्रकाशित पंडित गौरीदत्त की देवरानी-जेठानी की कहानी में कथावस्तु लगभग इसी समान थी। बाद में तमिल ईसाई लेखक, सेम्युअल वेदानयाकम पिल्लै ने तमिल का प्रथम मौलिक उपन्यास प्रथापा मुदलियार चरितम (1879) लिखा, जिसमें भाईचारा, वैवाहिक अनुराग, पतिव्रत्य, सर्व-उपकार, सत्य-निष्ठा और कृतज्ञता जैसे नैतिक गुणों का उपदेश दिया गया।

20.6.2 बंकिम युग

बंकिम चंद्र चटर्जी की प्रथम बंगला मौलिक रचना दुर्गेश नन्दिनी (1865) के साथ ही उपन्यास ने भारत में वयस्कता हासिल की। किसी भी भारतीय भाषा में प्रथम पूर्ण-विकसित इस उपन्यास को बंगाल के स्वामित्व के लिए मुगल-अफगान युद्ध की पृष्ठभूमि में लिखा गया, जिसमें एक भावुक प्रेम-त्रिकोण ने इसे और दिलचस्प बना दिया (मुगल सेना के युवा राजपूत सेनापति, एक दुर्ग के स्थानीय सामंत की पुत्री और एक कुलीन अफगान शहजादी जो उसके प्रेम में सब कुछ न्यौछावर करती है)। चटर्जी ने एक के बाद एक लगभग सभी ऐतिहासिक संदर्भ के अद्वितीय उपन्यास लिखे। बंगाल के सन्यासी आंदोलन की पृष्ठभूमि में रचित आनन्द मठ (1882) से प्रसिद्ध राष्ट्रवादी गीत "वन्दे मातरम" को लिया गया। बादशाह औरंगजेब के विरुद्ध राजपूत-विद्रोह के प्रसंग युक्त राजस्थान (1881) एक अन्य भावोत्तेजक ऐतिहासिक उपन्यास था। चटर्जी के समकालीन, रोमेश चन्द्र दत्त ने उनसे प्रभावित हो अनेक ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना की, जिनमें

दो सर्वाधिक प्रसिद्ध महाराष्ट्र जीवन प्रभात (1878) और राजपूत जीवन संध्या (1879) हैं।

ऐतिहासिक उपन्यास अन्य भारतीय भाषाओं में भी लोकप्रिय हुए। इसकी वजह यह है कि उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में समकालीन समाज के विभिन्न सामाजिक प्रतिबंधों ने प्रेम और वीरता के लिए बहुत कम अवसर दिया। परिणामस्वरूप वीरता और प्रेम की कथाओं को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में लिखा जाने लगा। रामचन्द्र भीकाजी गुन्जीकर ने मराठी के प्रथम कल्पनाप्रधान ऐतिहासिक उपन्यास मोचनगढ़ (1871) की रचना, महाराष्ट्र में एक पहाड़ी किले के इर्द-गिर्द की है, जो अंततः शिवाजी द्वारा अधिग्रहीत किया जाता है। बाद में हरिनारायण आप्टे को महाराष्ट्र में अपने ऐतिहासिक उपन्यासों: माइसोरेचा वाघ (1890), गाड अला पन सिम्हा गेला (1903), सूर्योदय (1905-1908), इत्यादि से बहुत सफलता मिली। मलयालम में सी.वी. रमन पिल्लै के प्रसिद्ध तीन ऐतिहासिक ग्रंथ-मार्तण्ड वर्मा (1891), धर्मराज और राम राजा बहादुर ने अठारहवीं शताब्दी के केरल के संकटकालीन समय के प्रामाणिक ब्यौरे को प्रस्तुत किया।

इनमें से अधिकांश ऐतिहासिक उपन्यासों की विषय-वस्तु राजपूतों और मराठों के वीरोचित कृत्यों पर आधारित है, जिनमें कई बार मुस्लिम चरित्रों को नकारात्मक दृष्टि से देखा गया है। इसके विपरीत, उर्दू के ऐतिहासिक उपन्यास भारत में या भारत के बाहर इस्लाम के गौरवशाली इतिहास से प्रेरणा लेते थे। उर्दू के शीर्ष उपन्यासकार अब्दुल हालिम शरार ने इस्लाम के स्वर्णकाल में इसकी गैर-मुस्लिम, विशेषकर ईसाई शक्तियों पर श्रेष्ठता प्रदर्शित करते हुए कई उपन्यास लिखे। इनमें से प्रथम मलिक-उल-अजीज वर्जना (1888) स्कॉट के तलिस्मान का प्रत्युत्तर था, जिसे वे इस्लाम के विरुद्ध पूर्वाग्रहीत समझते थे। प्रतिनिधिक प्रतिशोध के अंदाज में शरार बादशाह रिचर्ड की भतीजी वरजाना को सलादीन के पुत्र, मलिक-उल-अजीज के प्रेम में प्रदर्शित करते हैं। मन्सूर मोहाना (1890) गजनी के सुल्तान महमूद को लूट और विनाश के आरोपों से दोष-मुक्त करने के उद्देश्य से लिखा गया। फ्लोरा फ्लोरिण्डा (1897) स्पेन में ईसाइयों के अत्याचारों की पृष्ठभूमि में रचा गया जिसमें ईसाइयों द्वारा भेंट की गई एक मुस्लिम लड़की का चित्रण किया गया है। शरार की कहानियां अक्सर एक ऐसे भावुक प्रेम संबंध के इर्द-गिर्द चलती है, जिसमें जिहाद की मुस्लिम सेना के किसी कप्तान का स्थानी प्रदेश की उच्च-घराने की कुमारी से प्यार हो जाता था।

समकालीन सामाजिक संदर्भ में सफलतापूर्वक उपन्यासों का लिखना, उपन्यासकारों की कला से यथार्थवाद की अधिक मांग रखता था। बंकिम चन्द्र ने अपने दो प्रमुख सामाजिक नाटकों, विषवृक्ष (1873) और कृष्णाकांतेर विल (1878) के द्वारा मार्ग प्रशस्त किया। इन रचनाओं में चरित्र-चित्रण की गहराई थी, जिसने आने वाले कई वर्षों तक भारतीय कथा-साहित्य के मापदण्ड निर्धारित किए। ओ. चन्दू मेनन के मलयाली उपन्यास इन्दुलेखा (1888) ने भावुकताप्रधान प्रेम को सामाजिक यथार्थवाद से संयुक्त करने की कोशिश की। गोवर्धन राम के बृहत्तर गुजराती उपन्यास सरस्वती चन्द्र (4 भाग, 1887, 1892, 1898, 1900) में रूमानी और भावपूर्ण रुचि थी, परन्तु इस रचना के अंत में नायक-नायिका एक-दूसरे से ब्याह न करने का निश्चय करते हैं क्योंकि नायिका एक विधवा थी और ये आदर्शवादी प्रेमी अपने समाज की परिपाटी को चोट नहीं पहुंचाना चाहते थे। हरिनारायण आप्टे का विस्तृत मराठी उपन्यास पान लक्षान्त कौन घटो (1890) विधवाओं के प्रति रूढ़िवादी हिंदू समाज के अत्याचार और अन्याय पर आधारित एक यथार्थवादी रचना थी। मिर्जा हादी रूसवा के प्रतिष्ठित उर्दू उपन्यास उमराव जान अदा (1899) में नायिका के रूप में एक तवायफ अपनी दास्तान को असाधारण तटस्थता और विषय-निष्ठता के साथ पुनः याद करती है।

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद की प्रवृत्ति को महत्व मिला; जिसे रवीन्द्रनाथ टैगोर ने सचेत रूप से अपने प्रभावशाली उपन्यास चाखेर बाली (1903) में प्रस्तुत किया। इसके बाद उनकी और भी बृहत्तर रचना गोरा (1910) आई, जिसमें अपने युवा काल के बंगाल के समाज को हिलाने वाली नई उम्मीदों और नए आदर्शों का चित्रण था। समकालीन समाज का प्रामाणिक चित्रण उन दो जाने-माने उपन्यासकारों की विशिष्टता रही थी, जिन्होंने इसके बाद लिखना प्रारंभ किया था: शरत चन्द्र चटर्जी और मुंशी प्रेमचन्द। उनकी रचनाओं में बीसवीं शताब्दी के भारत में हलचल मचाने वाले

राष्ट्रीय आंदोलन की गहरी छाप थी। लेकिन यह उनकी सामाजिक और मनोवैज्ञानिक प्रेक्षण की गहराई PA, जिसकी चरमोत्कर्षता शरत के गृह-दाह (1920) और प्रेमचन्द के गोदान (1936) में प्रकट हुई, जिसने इन्हें अपने समय के शीर्ष लेखकों में ला खड़ा किया।

बोध प्रश्न 2

1) नाटक के क्रम-विकास पर पाश्चात्य प्रभाव का क्या परिणाम रहा?

....

....

....

2) प्रारंभिक उपन्यासों और बंकिम युगीन उपन्यासों में क्या भिन्नता थी?

....

....

....

20.7 सारांश

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आपने देखा कि:

- देशी भाषाओं का प्राचीन साहित्य लगभग संपूर्ण रूप से काव्यात्मक था एवं प्राचीन साहित्य की यह परंपरा अठारहवीं और यहां तक कि उन्नीसवीं शताब्दी के पहले भाग तक जारी रही।
- कालांतर में इस प्राचीन कविता में कमज़ोरी के लक्षण दिखाई पड़े एवं इसमें ताजगी का अभाव और पुनरावृत्ति की प्रवृत्ति शामिल हुई। मूल्यों में पतन के परिणामस्वरूप कविता साहित्य में भक्ति से रीति की ओर परिवर्तन होना शुरू हुआ।
- उन्नीसवीं शताब्दी में अंग्रेज़ी साहित्य के प्रभाव में भारतीय कविता ने अपनी ताजगी पुन: प्राप्त की। नए रूपों, जैसे अतुकांत छंद, सॉनेट और गीत के साथ प्रयोग किये जाने लगे। इस सबसे बढ़कर एक नई सृजनशील चेतना की बहुलता दिखाई दी, जिसने कविता के विषय-वस्तु को ही बदल डाला।
- रंगमंच के उद्भव होने से आधुनिक युग की सृजनशील चेतना को एक और दिशा प्राप्त हुई। रंगमंच की उपस्थिति ने नाट्य-साहित्य को प्रचुर गति प्रदान की, जो क्लासिकीय संस्कृत नाटक और पश्चिमी नाटकों, विशेषत: शेक्सपियर लिखित नाटकों से प्रभावित था।
- पश्चिम के प्रभाव के परिणामस्वरूप भारतीय साहित्य की एक पूर्णत: नई शाखा सामने आई। यह था उपन्यास, जो लघु-कहानी के साथ-साथ सामने आया। इसके परिणामस्वरूप भारतीय साहित्य में एक नवीन सामाजिक यथार्थवाद का सूत्रपात हुआ।

20.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखें भाग 20.3

2) अपना उत्तर भाग 20.4 के आधार पर लिखें।

बोध प्रश्न 2

1) देखें उपभाग 20.5.1
2) अपना उत्तर उपभाग 20.6.2 के आधार पर लिखें।